



श्री गुरुजी  
और

सामाजिक समरसता



संकलनकर्ता  
रमेश पतंगे

श्री गुरुजी  
और  
सामाजिक समरसता

संकलनकर्ता  
रमेश पतंगे

---

“जिस प्रकार किसी पेड़ के बढ़ते समय उसकी सूखी शाखाएँ गिरकर उनके स्थान पर नई-नई शाखाएँ खड़ी हो जाती हैं उसी प्रकार अपने समाज में भी एक समय विद्यमान वर्ण व्यवस्था में बदल कर अपने लिए आवश्यक नई रचना समाज करेगा। यह समाज की विकास प्रक्रिया का स्वाभाविक अंग है।”

-श्री गुरुजी

---

## श्री गुरुजी और सामाजिक समरसता

श्री गुरुजी दार्शनिक विचारक थे। राष्ट्रजीवन के प्रायः सभी पहलुओं पर उन्होंने अपने विचार प्रगट किए हैं। राष्ट्र की राजनीति, राष्ट्र का समाजविचार, राष्ट्र की अर्थनीति आदि विषयों पर आपने मूलगामी चिंतन प्रगट किया है। श्री गुरुजी के चिंतन की विशेषताएं इस प्रकार अधोरेखित की जा सकती हैं :-

- ◆ उनका चिंतन/विचार हमेशा समग्र चिंतन रहा करता था।
- ◆ चिंतन का मूलाधार शाश्वत, सनातन इसलिए सत्य रहता था।
- ◆ चिंतन की जड़ में अध्यात्म विचार रहा करता था।
- ◆ यद्यपि उनका चिंतन हिंदू समाज के संदर्भ में चलता रहा, फिर भी उसमें वैश्विकता थी। मानव जाति के व्यापक संदर्भ में वे अपने विचार प्रगट करते रहे।
- ◆ विचारों का प्रकटीकरण अनुभूति के आधार पर होने के कारण खोखले शब्द, शुष्क तर्कवाद, प्रतिपक्ष के खंडन में आनंद यह उनकी विशेषता कभी नहीं रही।
- ◆ सत्य को समाज के सामने रखते समय वे हमेशा निर्भय, निर्वैर रहा करते थे। उनके किसी भी चिंतन का अध्ययन करते समय इन विशेषताओं को ध्यान में रखना पड़ता है। सामाजिक समरसता के संदर्भ में श्री गुरुजी के विचारों का तथा कृति का अध्ययन करते समय ऊपरनिर्दिष्ट विशेषताओं को ध्यान में रखना पड़ेगा।

श्री गुरुजी का जीवनयज्ञ 'यह हिंदूराष्ट्र है' इस मंत्र का विस्तारशः प्रकटीकरण है। यह हिंदूराष्ट्र है और हिंदू समाज उसका पुत्ररूप समाज है, हिंदू समाज के उत्थान में राष्ट्रोत्थान है, उसके पतन में राष्ट्र का पतन है यह उनकी धारणा थी। हिंदू समाज का पतन हो जाने के कारण हिंदूराष्ट्र का पतन हुआ है। हिंदू समाज का पतन आत्मविस्मृति, आत्मविस्मृति के कारण सभी प्रकार की स्वार्थपरायणता, आत्मविस्मृति और स्वार्थपरायणता के कारण विभिन्न भेद, भेदों के कारण समाज का विघटन तथा असंघटित अवस्था में समाज चला गया है।

हिंदूराष्ट्र के उत्थान के लिए हिंदू समाज का उत्थान होना आवश्यक है। आत्मग्लानि दूर करने के लिए आत्मबोध जगाना पड़ेगा, स्वार्थपरायणता के स्थान पर निःस्वार्थ भाव निर्माण करना पड़ेगा। सभी भेदों को भुलाकर एकात्मता का भाव जाग्रत कर एकात्म, एकरस, समरस हिंदू समाज का निर्माण करना पड़ेगा, ऐसी श्रीगुरुजी की मान्यता थी। इस महान् लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए ही राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का जन्म है, इस लक्ष्यप्राप्ति हेतु साधनरूप संघशाखा है, इसपर उनकी एकांतिक श्रद्धा थी। इसी माध्यम से वे जीवन के अंतिम क्षण तक समाज संघटन द्वारा राष्ट्रोत्थान की साधना करते रहे। इस साधनाकाल में श्रीगुरुजी ने आदर्श समाज की स्थिति, वर्णव्यवस्था, जातिव्यवस्था, अस्पृश्यता, वनवासी बांधवों की स्थिति, समाजधारणा में धर्म का स्थान, समाज को उन्नत दिशा में ले जाने में धर्माचार्यों का योगदान, जातिभेद और राजनीति, भेदों को दूर करने के उपाय, दरिद्रनारायण की उपासना इन विषयों

पर अपना चिंतन स्पष्ट शब्दों में समाज के सामने रखा है। संक्षेप में उनका पुनःस्मरण करने का प्रयास यहाँ करना है।

## आदर्श समाज रचना

आदर्श समाज स्थिति का सपना अनेक तत्त्वविदों ने, समाजशास्त्रियों ने, मनीषियों ने रखा है। आधुनिक काल में कार्ल मार्क्स ने समतायुक्त, शोषणमुक्त शासनविहीन समाज का सपना रखा। महात्मा गांधी ने अहिंसा और सत्य पर आधारित सर्वोदय समाज का सपना देखा। डॉ. बाबासाहब अंबेडकर ने स्वातंत्र्य, समता, बंधुता और न्याय पर आधारित समाज रचना का सपना देखा। श्री गुरुजी ऐसा कोई काल्पनिक आदर्श समाज का चित्र नहीं रखते। वे अपने प्राचीनतम इतिहास के आयने में देखकर श्रेष्ठ समाज रचना का चित्र - जो किसी समय वास्तविकता थी - सम्मुख रखते हैं।

वे कहते हैं, “हमारी हिंदू संस्कृति ने समाज का कौनसा चित्र रखा है? इस प्रश्न का विचार करते समय हमारे सम्मुख जो अपना चित्र आता है, उसमें हम देखते हैं कि हमारे यहाँ समाजजीवन के भाव के अनुसार ही युग की कल्पना रखी गई है - सतयुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग और कलियुग। इनमें से प्रत्येक में समाज की विशेष स्थिति होती है। सतयुग में सब समान थे, संपत्ति सबकी थी, जिसमें से आवश्यकतानुसार लेकर सब सुख का जीवन व्यतीत करते थे। धर्म चारों अंगों से समाज में व्याप्त था। समाज की धारणा करने वाली तथा ऐहिक और पारलौकिक सुख को संप्रदान करनेवाली शक्ति को ही हमने धर्म की संज्ञा दी है। अखंड मंडलाकार विश्व को एकात्मता का साक्षात्कार कराने वाले धर्म के आधार पर प्रत्येक अपनी प्रकृति को जानकर दूसरे के सुख के लिए काम करता है। सत्ता न होते हुए भी केवल धर्म के कारण न तो एक दूसरे पर आघात होते थे न आपस में संघर्ष ही होता था। चराचर के साथ एकात्मता का साक्षात्कार होने के कारण किसी प्रकार बाह्य नियंत्रण न होते हुए भी मनुष्य ‘नायं हन्ति न हन्यते’ के भाव के अनुसार पूर्ण शांति व्यवहार करता है। यह सतयुग की कल्पना है।”

(श्रीगुरुजी समग्र : खंड २, पृष्ठ ६५)

आज की सामाजिक परिभाषा में कहना है तो यँ कहा जा सकता है कि इस स्थिति में सभी समान हैं, सार्वजनिक बंधुभाव है, किसी पर कोई अन्याय नहीं और समाज के स्त्री-पुरुष सार्वत्रिक समरसता का अनुभव करते हैं। समाज की इस स्थिति को ‘साम्यावस्था’ भी कहा जा सकता है।

मनुष्य योनि में जन्म के कारण सभी मानव, मानव इस संज्ञा से समान हैं, लेकिन एक सरीखे (identical) नहीं होते। जन्मतः कोई बुद्धिमान होता है, कोई कम बुद्धिवाला, कोई गोरा होता है तो कोई काला, कोई ऊँचा होता है तो कोई टिगना (Dwarf) रुचिभिन्नता, स्वभावभिन्नता, गुणभिन्नता है। इस का मतलब हुआ कि निसर्गतः मानवी समाज में गुणों की, क्षमताओं की असमानता रहती है। श्री गुरुजी इस जन्मतः असमानता को विषमता नहीं मानते। वे कहते हैं कि एक ही चैतन्य का यह विविधतापूर्ण आविष्कार है। श्री गुरुजी के शब्द इस प्रकार हैं - “आत्मा का आधार ही वास्तविक आधार है, क्योंकि आत्मा सम है, सब में एक ही जैसी समान रूप से अभिव्यक्त है। सब का एक ही चैतन्य है, इस पूर्णता के आधार पर ही प्रेमपूर्ण व्यवहार, व्यक्ति को परमात्मा का अंग मानकर नितान्त प्रेम, विश्व को परमेश्वर का व्यक्त रूप मानकर विशुद्ध प्रेम यही वह अवस्था है।”

(श्रीगुरुजी समग्र: खंड २, पृष्ठ ६८)

श्री गुरुजी समरस समाज जीवन का एक श्रेष्ठ दार्शनिक आधार यहाँ प्रस्तुत करते हैं।

निसर्गतया जो असमानता उत्पन्न होती है उसको भेद मानना, विषमता मानना गलत है, इसको और अधिक स्पष्ट करते हुए वृक्ष के दृष्टांत से वे कहते हैं, 'उदाहरणार्थ एक वृक्ष को लीजिए, जिसमें शाखाएँ, पत्तियाँ, फूल और फल सभी कुछ एक दूसरे से नितांत भिन्न रहते हैं किंतु हम जानते हैं ये सब दिखनेवाली विविधताएँ केवल उस वृक्ष की भाँति-भाँति की अभिव्यक्तियाँ हैं। यही बात हमारे सामाजिक जीवन की विविधताओं के संबंध में भी है, जो इन सहस्रों वर्षों में विकसित हुई हैं।' (अ.भा. जिला प्रचारक वर्ग, सिंदी, विदर्भ - १९५४)

## आदर्श समाज कैसे निर्माण होगा?

युग की परिभाषा में कहना होगा तो आज हम कलियुग से गुजर रहे हैं। ईर्ष्या, स्पर्धा, द्वेष, अविश्वास, भोगलालसा आदि इस युग की विशेषताएँ हैं। सब प्रकार की असमानता, शोषण, अन्याय इस युग की पहचान हैं। "आर्थिक, राजनीतिक, वैचारिक आदि सभी आधारों पर लोग संघर्ष के लिए तैयारी कर रहे हैं। आत्मौपम्य बुद्धि कम हो गई है। धर्म की कमी के कारण उत्पन्न आज का दुःख, दैन्य और अशांति से परिपूर्ण जीवन ही रह जाता है।"

(श्री गुरुजी समग्र : खंड २, पृष्ठ ६५)

आदर्श समाज की रचना केवल रट लगाने से नहीं होगी। उस लक्ष्य प्राप्ति के लिए निरंतर कष्ट उठाने पड़ेंगे। श्री गुरुजी का बताया हुआ मार्ग इस प्रकार है।

- ◆ संपूर्ण समाज की एकात्मता का अनुभव।
- ◆ पूर्ण राष्ट्र की सेवा।
- ◆ अपना सुख-दुःख भूलकर भी अपने बंधुओं के लिए सर्वस्वार्पण करते जाना।
- ◆ इसी से संपूर्ण मानव समाज के साथ समान सुख-दुःख की भूमिका उत्पन्न होगी।
- ◆ यह सारा कार्य धर्मभाव जागरण से ही संभव होगा

इस महान ध्येय को श्री गुरुजी ने अपने ३३ वर्ष के जीवनकाल में बार-बार दुहराया है। आत्मौपम्य दृष्टि से सभी को समान देखते हुए, निरपेक्ष प्रेम भाव से समाज के सभी अंगों, प्रत्यंगों के साथ एकात्मभाव जगाने का प्रयास उन्होंने निरंतर किया। उनके लिए 'समरसता' यह दिखावे का शब्द नहीं था, जीवन व्यवहार का दर्शन था।

## हिंदू समाज स्थिति

हम सभी जानते हैं कि आज का हिंदू समाज चार वर्ण और हजारों जातियों में बँटा हुआ समाज है। हिंदू समाज के अंदर किसी व्यक्ति की पहचान 'हिंदू' इस शब्द से कम और जन्म जाति से अधिक होती है। आज की जातिप्रथा और वर्णप्रथा जन्मतः है। विषमता उसकी जड़ है। श्रेणीबद्धता उसकी विशेषता है। एक जाति से दूसरी जाति में जाना प्रायः असंभव है। श्रेणीबद्ध रचना होने के कारण धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, शैक्षणिक अधिकारों का बँटवारा विषमता से किया गया है। कई जातियाँ जन्मतः अपवित्र मानी गई हैं, उनको अछूत माना गया है। ब्राह्मण जातियाँ जन्मसे ही पवित्र मानी गई हैं। वर्ण-जाति, अस्पृश्यता ये सब हिंदू धर्म के ही अंग हैं, ऐसा माना गया। धार्मिक अधिष्ठान प्राप्त होने के कारण, वर्ण, जाति, अस्पृश्यता अपरिवर्तनीय मानी गई। सैकड़ों साल समाज का बड़ा हिस्सा अज्ञान और दरिद्रता में रहा। इसी कारण सब प्रकार का पिछड़ापन समाज के कई वर्गों -

जातियों में पाया जाता है। समरस समाज निर्मिति में या समाज की साम्यावस्था की स्थिति लाने में आज विद्यमान जातिभेद, वर्णभेद का रोग एक बड़ा रोड़ा बनकर खड़ा है। क्या था श्री गुरुजी का दृष्टिकोण वर्ण, जाति, अस्पृश्यता के संदर्भ में?

## वर्णव्यवस्था

श्री गुरुजी के संदर्भ में जानबूझकर एक गलत अवधारणा फैलाई गई है कि श्री गुरुजी विषमतामूलक चातुर्वर्ण्य के पक्षधर थे। चातुर्वर्ण्य व्यवस्था को फिर से हिंदू समाज में क्रियान्वित करना यही उनका हेतु था। समाज चार वर्णों में तथा हजारों जातियों में बँटा रहे यही उनकी मनीषा थी। वास्तविकता इससे बिल्कुल उलटी है। इसीलिए वास्तविकता को समझना नितांत आवश्यक है।

समाज एक जीवमान संकल्पना है, ऐसी श्री गुरुजी की मान्यता थी। वे खुद विज्ञान के छात्र थे, इसीलिए 'अमिबा' नामक एक-पेशीय जीव का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए वे बताते हैं कि जिस प्रकार एक-पेशीय अमिबा का विकास होते जाता है, 'वैसे-वैसे जीवों की जातियाँ बनने लगती हैं, बढ़ती हुई क्रियाओं को पूर्ण करने के लिए उनके विविध अंग होते हैं, अंत में मनुष्य शरीर बनता है जो अनेक अंगों से संघटित एक अत्यंत संश्लिष्ट यंत्र है।'

(अ.भा. जिला प्रचारक वर्ग, सिंदी, विदर्भ - १९५४)

मानवी शरीर में विविध अवयव होते हैं, उनके आकार और कार्य भी अलग-अलग होते हैं। लेकिन कोई भी अवयव शरीर की बुराई के लिए काम नहीं करता। परस्परपूरक तथा परस्पर-अनुकूल व्यवहार उनका होते रहता है। शरीर रचना और उनके विभिन्न अंगों में विद्यमान सामरस्य भाव समाज में भी उत्पन्न हो सकता है, ऐसी श्री गुरुजी की मान्यता थी।

श्री गुरुजी का कहना है कि 'समाज एक जीवित वस्तु है (और) मानव-शरीर रचना जीवन के विकास का सर्वोत्तम रूप है और इसलिए यदि किसी जीवमान स्वरूप की रचना करनी हो, तो वह उसके ही अनुरूप होनी चाहिए। समाज रचना भी यदि जीवमान मानव के अनुरूप ही की, तो वह निसर्ग के अनुकूल होने के कारण अधिक उपयुक्त होगी।'

(श्रीगुरुजी समग्र: खंड २, पृष्ठ १२५)

जीवमान मानव के अनुरूप समाज की रचना कैसी बनाई जा सकती है, यह एक जटिल प्रश्न है। मनुष्य तो एक अकेला होता है, उसके जीवमान स्वरूप को हम देख सकते हैं, अनुभव कर सकते हैं। समाज तो मानवों का समूह रहता है। समाजपुरुष नाम से किसी एक जीवमान इकाई को देखना, अनुभव करना इतना आसान काम नहीं है। ऐसी सारी समस्या रहते हुए भी समाज को एक जीवमान स्वरूप में खड़ा करने का प्रयास हमारे पूर्वजों ने किया था। इस संदर्भ में श्री गुरुजी कहते हैं, "अपने पूर्वजों ने यह भी सोचा कि समाज जीवन की रचना ऐसी करनी है, जहाँ समान गुण एवं समान अंतःकरणवाले व्यक्ति एकत्र आ कर, विकास करते हुए, जीवनयापन करने के लिए, जिस मार्ग से वे अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकें, उसके अनुसार चल सकें।"

जीवमान मानव के अनुसार समाज की भी जीवमान रचना करने का प्रयास याने चातुर्वर्ण्य है। श्री गुरुजी इसे अपने समाज रचना की विशेषता मानते थे। आज चातुर्वर्ण्य के विषय में निंदाजनक बोलना-लिखना एक फैशन-सा बन गया है। श्रीगुरुजी ने इस populist मार्ग को स्वीकार नहीं किया। विषय की शास्त्रीय चिकित्सा करते समय वे कभी भी apologetic नहीं रहे। चातुर्वर्ण्य के आज के भेदभावजनक रूप के भी वे कड़े आलोचक रहे हैं। उनका कथन इसप्रकार है, "अपने मूल रूप में उस

समाजव्यवस्था में घटकों के मध्य बड़े-छोटे अथवा ऊँच-नीच की भावना का कोई स्थान नहीं था। समाज के संबंध में यह भावना रखी गई कि वह उस सर्व शक्तिमान परमात्मा का चतुर्विध अभिव्यक्त स्वरूप है जो सभी के लिए अपनी - अपनी क्षमता एवं पद्धतियों से पूजनीय है। यदि ब्राह्मण विद्यादान के द्वारा बड़ा हो जाता है, तो शत्रुओं का नाश करने से क्षत्रिय भी समान प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है। वैश्य भी कम महत्त्व का नहीं जो कृषि और व्यापार के द्वारा समाज को सुस्थिर रखता है अथवा शूद्र भी कम नहीं है जो अपने कलाकौशल से समाज की सेवा करता है। इन सबके परस्पर एक दूसरे पर निर्भर रहने तथा साथ-साथ परस्पर के 'तादात्म्य भाव से उस पूर्वकालीन समाजव्यवस्था का निर्माण हुआ था।' (विचार नवनीत, पृष्ठ १०६)

हिंदू समाज में जातिप्रथा का उदय कैसे हुआ इसके बारे में श्रेष्ठ विचारकों ने कई सिद्धांत रखे हैं। जिनको आक्रमक आर्य सिद्धांत मान्य हैं वे कहते हैं कि बाहर से आए आक्रमक आर्यों ने स्थानीय लोगों को दास बनाकर उनको जातियों में बाँट दिया। इस सिद्धांत के अनुसार आक्रमक आर्य तो यूरोप-रशिया में भी गए, फिर वहाँ के लोगों को उन्होंने जातियों में क्यों नहीं बाँटा? इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं। आजकल की आम धारणा यह है कि मनुस्मृति के रचयिता मनु ने जातिभेदों का निर्माण किया है। महामानव डॉ. भीमराव अंबेडकरजी के अनुसार मनु ने जातिप्रथा का निर्माण नहीं किया। जातिप्रथा एक जटिल रचना है और कोई भी व्यक्ति कितना भी महान क्यों न हो, ऐसी जटिल व्यवस्था का निर्माण उसके बस की बात नहीं है।

श्री गुरुजी इस प्रकार के किसी सिद्धांत की चर्चा नहीं करते। जातिप्रथा का धीरे-धीरे विकास होता चला गया। अपने पूर्वजों ने मानवी जीवन की रचना चतुर्विध पुरुषार्थ में की। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ये चार पुरुषार्थ माने गए। मनुष्य जीवन का अंतिम साध्य मोक्ष माना गया। मनुष्य जीवन का अंतिम लक्ष्य भोग नहीं है। मोक्ष याने शाश्वत सुख की खोज यही उसके जीवन का अंतिम पड़ाव है। अपने भीतर का सुख खोजने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को कई विषयों से चिंतामुक्त रहना आवश्यक है। प्रत्येक व्यक्ति की प्राथमिक चिंता जीवन चलाने की होती है, पेट भरने की होती है। अन्न, वस्त्र, आवास ये तीन उसकी प्राथमिक आवश्यकताएँ हैं। उनको पर्याप्त मात्रा में प्राप्त करने के लिए कष्ट करने पड़ते हैं। दौड़-धूप करनी पड़ती है। अपनी सभी प्रकार की सुरक्षा की भी चिंता प्रत्येक व्यक्ति को रहती है। अगर आदमी चौबीसों घंटे इसी चिंता में व्यस्त रहे, तो उसका पूर्ण विकास कैसे होगा? मानसिक, बौद्धिक, आत्मिक सुख की प्राप्ति उसे कैसे संभव होगी?

श्री गुरुजी इन प्रश्नों का उत्तर देते हैं, वे कहते हैं, "अपने पूर्वज बड़े व्यावहारिक थे। सामान्य मनुष्य की कामना, वासना आदि का विचार करके उसको अंतिम लक्ष्य तक पहुँचाने की कल्पना उनके सामने थी। इसलिए सामान्य मनुष्य को ऐहिक उदर-भरण के बाद उपासना के लिए निश्चित अवकाश मिलना चाहिए, यह उन्होंने समझा और ऐसी व्यवस्था की कि जन्म पाते ही मनुष्य की रोजी बिल्कुल निश्चित हो जाए। उसके लिए व्यक्ति ने परंपरा से प्राप्त व्यवसाय के लिए योग्य बनना और परिवार का पोषण करना इतना ही आवश्यक था। ऐसे भिन्न-भिन्न व्यवसाय के लोगों को उन्होंने एकत्र किया और जातिव्यवस्था के रूप में मानो 'नेशनल इंश्योरेन्स स्कीम विदाउट गव्हर्नमेंट इंटरफिअरेन्स (शासकीय हस्तक्षेप बिना राष्ट्रीय बीमा योजना) निर्माण की। अपने जन्मसिद्ध व्यवसाय से परिवार का पोषण करना और आनंद से शांतचित्त होकर परम-तत्त्व का चिंतन और सद्गुणों का आह्वान करना यह हो सकता था।

(अ.भा. जिला प्रचारक वर्ग, सिंदी, विदर्भ - १६५४)



समाज एक जीवमान संकल्पना होने के कारण हम सब समाज के अंग हैं, एक ही समाज चैतन्य हममें विद्यमान है। उस चैतन्य भाव से हम सब समान हैं, परस्पर पूरक हैं, एक दूसरे के साथ समरस हैं ऐसी श्री गुरुजी की धारणा थी। “इस धारणा के अनुसार एकात्मता का साक्षात्कार करें, आसेतुहिमालय सारे राष्ट्र को महान, श्रेष्ठ, दैवी चैतन्यमय व्यक्तित्व के रूप में देखें और उसके अंग होने के नाते अपने को एक समझें, सब अंगों की पवित्रता पर विश्वास करें।”

(श्रीगुरुजी समग्र : खंड २, पृष्ठ १०२)

मानवी समाज जीवन में निसर्गतः जो असमानता होती है उसे हावी नहीं होने देना यही बुद्धिमाननी है। इस असमानता को व्यवसाय निश्चिती, उदरभरण के साधन की निश्चिती, परस्पर सहयोग द्वारा दूर किया जा सकता है। ‘मानव प्राणी को उच्चतम सामंजस्य में रहने की योग्यता प्राप्त’ करनी पड़ेगी। ‘यह एक लंगड़े और अंधे के सहयोग के समान है। लंगड़े आदमी को टांग मिली है और अंधे को आँख। सहयोग की भावना असमानता की कटुता दूर कर देती है। व्यक्ति और समाज के संबंध का हमारा दृष्टिकोण संघर्ष का न होकर सभी व्यक्तियों में उस एक सत्य का विराजमान होने के बोध से उत्पन्न सामंजस्य और सहयोग का रहा है।”

(विचार नवनीत, पृष्ठ २६-२७)

श्री गुरुजी ने ‘वर्णव्यवस्था’ और ‘जातिव्यवस्था’ ऐसे शब्द प्रयोग किए हैं। ‘वर्णभेद’ और ‘जातिभेद’ ये आज के शब्द हैं। आज का इसका स्वरूप ‘अधोमुखी विपर्यस्त’ है, ऐसी श्रीगुरुजी की मान्यता थी। वर्णव्यवस्था तथा जातिव्यवस्था के कारण हमारा सब प्रकार का पतन हुआ और पारतंत्र्य में चले गए यह कथन श्री गुरुजी को स्वीकार्य नहीं है। यह कथन ‘इतिहास शुद्ध’ नहीं है। श्री गुरुजी का तर्क इस प्रकार है -

“गत सहस्र वर्षों में जब हमारा राष्ट्र विदेशियों के आक्रमण का शिकार बना, एक भी उदाहरण ऐसा नहीं मिलता, जिससे यह सिद्ध हो सके कि हमारे राष्ट्र की जिस फूट ने विदेशी आक्रांताओं को सहायता की उसके मूल में यह जातिभेद थे। मुहम्मद घोरी के द्वारा दिल्ली के हिंदू राजा पृथ्वीराज की पराजय का कारण जयचंद था, जो उसका जातिबंधु था। जिस व्यक्ति ने जंगलों में राणा प्रताप का पीछा किया, वह मानसिंह भी उनकी जाति का ही व्यक्ति था। शिवाजी महाराज का भी विरोध उनकी जाति के लोगों द्वारा हुआ। जातिभेद कभी भी इसका कारण नहीं रहा।”

(श्रीगुरुजी समग्र : खंड ११, पृष्ठ ११६)

(यही सारे उदाहरण संविधान निर्माता डॉ. भीमराव अंबेडकरजी के संविधान सभा में २५ नव. १९४६ को दिए हुए आखिरी भाषण में मिलते हैं।)

आगे श्री गुरुजी का तर्क है - “यदि जातिव्यवस्था ही हमारे दौर्बल्य का मूल कारण होती तो हमारा समाज उन समाजों की भाँति, अति सरलता से विदेशी आक्रमणों के समक्ष पराभूत हो गया होता, जिनमें जातियाँ नहीं थीं।” मुस्लिम आक्रमकों ने ‘अनेकों साम्राज्य - ईरान, मिस्र, रोम, यूरोप तथा चीन तक सभी - जो भी उनके मार्ग में आए उनको पैरों के नीचे कुचल दिया। उन देशों के लोगों में जातियाँ और उपजातियों के भेद नहीं थे। हमारे लोगों ने उन भीषण आक्रमणों का दृढ़ता एवं वीरता से सतत एक हजार वर्ष तक सामना किया और उसके द्वारा विनष्ट होने के स्थान पर अंत में हम शत्रु की समस्त शक्तियों को कुचल कर उसे पूर्ण रूप से नष्ट करने में सफल हुए।”

(श्रीगुरुजी समग्र : खंड ११, पृष्ठ ११६-११७)

इसका यह अर्थ निकालना कि आज जिस अवस्था में वर्णभेद, जातिभेद है उसे बनाए रखना चाहिए, समाज के लिए आवश्यक है, बिल्कुल गलत होगा। श्री गुरुजी की यह अवधारणा नहीं थी। आज तो केवल विकृति ही बची है। इसलिए उसे समाप्त करना ही उचित होगा। श्री गुरुजी के शब्दों में, “निस्संदेह आज जाति-व्यवस्था सभी प्रकार से भ्रष्ट हो गई है। मैंने एक बार किसी से कहा था कि नया मकान बनाने के लिए पुराना मकान कई बार तोड़ना पड़ता है। आज जो विकृत बनी हुई समाजरचना है उसको यहाँ से वहाँ तक तोड़-मरोड़ कर सारा ढेर लगा देंगे। उसमें से आगे चलकर जो विशुद्ध रूप बनेगा सो बनेगा। आज तो सब का एकरस ऐसा समूह बना कर, अपने विशुद्ध राष्ट्रीयत्व का संपूर्ण स्मरण हृदय में रखकर, राष्ट्र के नित्य चैतन्यमय व सूत्रबद्ध सामर्थ्य की आकांक्षा अंतःकरण में जागृत रखनेवाला समाज खड़ा करना है।”

(इंदौर वर्ग, श्रीगुरुजी समग्र दर्शन खंड ४, पृष्ठ ३२/३३(पुराना)

अनेकों बार कई कार्यकर्ताओं ने श्री गुरुजी से वर्ण तथा जातिव्यवस्था के बारे में प्रश्न पूछे हैं। इन प्रश्नों के उत्तर में श्रीगुरुजी का वर्ण तथा जातिव्यवस्था के बारे में दृष्टिकोण बिल्कुल साफ हो जाता है। उदाहरण के लिए कुछ प्रश्न और श्री गुरुजी द्वारा दिए गए उनके उत्तर इस प्रकार हैं:-

**प्रश्न:** यह हिंदू राष्ट्र है इस सिद्धांत पर जो आपत्ति करते हैं वे समझते हैं कि पुराने जमाने में जाति और वर्ण-व्यवस्था थी उसी को लाकर, उसके आधार पर छुआछूत बढ़ाकर ब्राह्मणों का वर्चस्व प्रस्थापित किया जाएगा। ऐसे विकृत विचारों और विपरीत अर्थ का वे हम पर आरोप करते हैं। और कहते हैं कि यह विचार देश के लिए संकटकारी और घातक है।

**उत्तर:** अपने यहाँ कहा गया है कि इस कलियुग में सब वर्ण समाप्त होकर एक ही वर्ण रहेगा। इसको मानो। वर्णव्यवस्था, जातिव्यवस्था का नाम सुनते ही अपने मन में हिचकिचाहट उत्पन्न होकर हम ‘अपोलोजेटिक’ हो जाते हैं। हम दृढ़तापूर्वक कहें कि एक समय ऐसी व्यवस्था थी। उसने समाज पर उस समय उपकार किया। आज उपकार नहीं दिखता, तो हम उसको तोड़कर नई व्यवस्था बनाएंगे।

जीवशास्त्र में विकास बिल्कुल सादी रचना से जटिलता की ओर होता है। जीव की सब से प्राथमिक अवस्था में हाथ, पैर कुछ नहीं होते। मांस का लोथ रहता है। उसी से खाना, पीना, निकालना आदि सब काम वह करता है। जैसे-जैसे उसका विकास होता है, वैसे-वैसे ‘फंक्शनल ऑर्गन्स’ प्रकट होने लगते हैं। यह ‘इव्होल्यूशनरी प्रोसेस’ सामाजिक जीवन में है। जिन में ऐसा नहीं है वे प्रिमिटिव सोसायटीज हैं। केवल मारक अस्त्र बना लेना विकास नहीं। हम तो समाज को ही भगवान मानते हैं, दूसरा हम जानते नहीं। उसका कोई अंग अछूत नहीं, हेय नहीं। एक-एक अंग पवित्र है यह हमारी धारणा है। इसमें तर तम भाव अंगों के बारे में उत्पन्न नहीं हो सकता। हम इस धारणा पर समाज बनाएंगे। भूतकाल के बारे में अपोलोजेटिक होने की कोई बात नहीं। दूसरों से कहें कि तुम क्या हो? मानव सभ्यता की शताब्दियों लंबे कालखंड में तुम्हारा योगदान कितना रहा? आज भी तुम्हारे प्रयोगों में मानव-कल्याण की कोई गारंटी नहीं। तुम हमें क्या उपदेश देते हो? यह हमारा समाज है। अपना समाज हम एकरस बनाएंगे। उसका अनेक प्रकार का कर्तृत्व, उसकी बुद्धिमत्ता सामने लाएंगे, उसका विकास करेंगे।

**प्रश्न:** जाति के विषय में आपका निश्चित दृष्टिकोण क्या है?

**उत्तर:** संघ किसी जाति को मान्यता नहीं देता। उसके समक्ष प्रत्येक व्यक्ति हिंदू है। जाति अपने समय में एक महान संस्था थी, किंतु आज वह देश-कालबाह्य है। जो लचीला न हो वह शीघ्र ही प्रस्तरित (विपस) वस्तु बन जाता है। मैं चाहता हूँ कि अस्पृश्यता कानूनी रूप से ही नहीं प्रत्यक्ष रूप से भी

समाप्त हो। इस दृष्टि से मेरी बहुत इच्छा है कि धार्मिक नेता अस्पृश्यता-निवारण को धार्मिक मान्यता प्रदान करें। मेरा यह भी मत है कि मनुष्य का सच्चा धर्म यही है कि उसका जो भी कर्तव्य हो, उसे बिना ऊँच-नीच का विचार किए, उसकी श्रेष्ठतम योग्यता के साथ वहन करें। सभी कार्य पूजास्वरूप हैं और उन्हें पूजा की भावना से ही करना चाहिए। मैं जाति को प्राचीन कवच के रूप में देखता हूँ। अपने समय में उसने अपना कर्तव्य किया, किंतु आज वह असंगत है। अन्य क्षेत्रों की तुलना में पश्चिम पंजाब व पूर्व बंगाल में जाति-व्यवस्था दुर्बल थी, यही कारण है कि ये क्षेत्र इस्लाम के सामने परास्त हुए। यह स्वार्थी लोगों द्वारा थोपी गई अनिष्ट बात है कि जाति-व्यवस्था के कारण हम पराभूत हुए। ऐसी अज्ञानमूलक भर्त्सना के लिए मैं तैयार नहीं हूँ। अपने समय में वह एक महान संस्था थी तथा जिस समय चारों ओर अन्य सभी कुछ ढहता-सा दिखाई दे रहा था, उस समय वह समाज को संगठित रखने में लाभप्रद सिद्ध हुई।

**प्रश्न:** क्या हिंदू संस्कृति के संवर्धन में वर्णव्यवस्था की पुनः स्थापना निहित है?

**उत्तर:** नहीं। हम न जातिप्रथा के पक्ष में हैं और न ही उसके विरोधक हैं। उसके बारे में हम इतना ही जानते हैं कि संकट के कालखंड में वह बहुत उपयोगी सिद्ध हुई थी और यदि आज समाज उसकी आवश्यकता अनुभव नहीं करता, तो वह स्वयं समाप्त हो जाएगी। उसके लिए किसी को दुखी होने का कारण भी नहीं।

**प्रश्न:** क्या वर्णव्यवस्था हिंदू समाज के लिए अनिवार्य नहीं है?

**उत्तर:** वह समाज की अवस्था या उसका आधार नहीं है। वह केवल व्यवस्था या एक पद्धति है। वह उद्देश्य की पूर्ति में सहायक है अथवा नहीं, इस आधार पर उसे बनाए रख सकते हैं अथवा समाप्त कर सकते हैं।

## अस्पृश्यता

जातिप्रथा की सब से भयानक उपज अस्पृश्यता की रूढ़ि है। हिंदू धर्म तत्त्वज्ञान सभी जीवों में एक ही चैतन्य, आत्मतत्त्व देखने को कहता है। सभी मानवों में ईश्वर का निवास देखने को कहता है। भगवान श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं - 'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो' - सभी के हृदय में मेरा निवास है। इतना श्रेष्ठ तत्त्वज्ञान रहते हुए भी अपने ही समाज के अंग रहे करोड़ों बंधुओं को 'अस्पृश्य' माना गया। उनको गांव के बाहर रखा गया। उनका स्पर्श तथा छाया भी अपवित्र मानी गयी। उन पर सामाजिक दासता थोपी गई। उन्होंने कौनसा व्यवसाय करना, कौनसे कपड़े-गहने पहनना, कहाँ रहना, क्या खाना इस संदर्भ में कड़े नियम बनाए गए। उनका कठोरता से तथा निर्दयता से पालन किया गया। अछूत बंधु की अवस्था जानवर से भी निकृष्टतम की गई। इसमें सबसे बुरी बात यह रही कि अस्पृश्यता को ही धर्म माना गया। अस्पृश्यता की रूढ़ि का पालन नहीं करना याने धर्मद्रोही वर्तन करना यह आम धारणा बनाई गई। यह धारणा लोगों के दिलो-दिमाग पर छाई रही।

अस्पृश्यता की रूढ़ि से श्री गुरुजी अत्यंत दुःखी रहा करते थे। इस कुप्रथा को अपने समाज में से जड़ से निकालकर कैसे फेंके इसकी चिंता उनके अंतःकरण में सदैव रहा करती थी। अस्पृश्यता की रूढ़ि को उन्होंने तीन खेमों में बाँटा। एक है सवर्ण समाज जो अस्पृश्यों को अस्पृश्य कहता है। दूसरा है अस्पृश्यता का शिकार बना अस्पृश्य समाज जो खुद को अस्पृश्य समझता है और तीसरा है धर्माचार्योंका

वर्ग जो इस रूढ़ी को धार्मिक मान्यता (सँक्शन) प्रदान करता है। श्री गुरुजी ने इन तीनों मोर्चों पर ऐतिहासिक कार्य करके समाज में समरसता लाने का भरसक प्रयास किया।

अस्पृश्यता को परिभाषित करते समय श्री गुरुजी का कथन है - “सवर्णों के मन के क्षुद्र भाव का नाम अस्पृश्यता है।” दूसरे शब्दों में अस्पृश्यता एक मानसिक विकृति है। मानसिक सुधार संस्कारों द्वारा ही संभव है। संस्कार एकात्मता का, एकरसता का, भ्रातृभाव का, सेवाभाव का निरंतर करना चाहिए। संघ शाखा की कार्यपद्धति इस में अद्वितीय यश प्राप्त कर चुकी है। वर्धा शिविर में महात्मा गांधी ने अनुभव किया कि सभी शिविरार्थी एक समान धरातल पर हैं। अस्पृश्य-स्पृश्य ऐसा कोई भेदभाव उनमें नहीं है। पुणे के संघ शिक्षा वर्ग में महामानव डॉ. बाबासाहब अंबेडकरजी को भी इसी सत्य का अनुभव आया। संघ शाखा से संस्कारित हिंदू केवल हिंदूभाव जानता है, उसे अपने जन्मजाति का विस्मरण हो जाता है। संघ में न आनेवाले, संघ के बाहर जो विशाल हिंदू समाज है उसके मन को कैसे साफ किया जाय यह समस्या है। श्री गुरुजी का चिंतन इस प्रकार है।

“अस्पृश्यता रोग की जड़ जनसामान्य के इस विश्वास में निहित है कि यह धर्म का अंग है और इसका उल्लंघन महापाप होगा। यह विकृत धारणा ही वह मूल कारण है, जिससे शताब्दियों से अनेक समाज-सुधारकों एवं धर्म-धुरंधरों के समर्पित प्रयासों के बाद भी यह घातक परंपरा जनसामान्य के मन में आज भी घर किए बैठी है।”

जनसामान्य के मन में घर किए बैठी इस घातक परंपरा को निकालने का काम धर्माचार्यों का है। विश्व हिंदू परिषद का माध्यम श्री गुरुजी ने इसके लिए उपयुक्त समझकर अस्पृश्यता का कलंक मिटाने का प्रयास किया। इस संदर्भ में प्रयाग (१९६६) उडुपी (१९६६) सम्मेलन का काफी महत्त्व है। प्रयाग के सम्मेलन में परधर्म में गए हिंदूओं के घर वापसी का प्रस्ताव पारित किया गया और “न हिन्दूः पतितो भवेत्” की उद्घोषणा की गई। उडुपी का सम्मेलन ‘अस्पृश्यता धर्म सम्मत नहीं - ‘हिंदवः सोदराः सर्वे’ उद्घोषणा से विख्यात है।

उडुपी के ऐतिहासिक सम्मेलन के बारे में श्री गुरुजी के विचार इस प्रकार हैं- “इस दिशा में १९६६ में विश्व हिंदू परिषद के उडुपी सम्मेलन में एक सही शुरुआत की गई। इसमें शैव, वीरशैव, मध्व, वैष्णव, जैन, बौद्ध आदि समस्त हिंदू संप्रदायों का प्रतिनिधित्व हुआ था। सम्मेलन में सर्वसम्मति से एक प्रस्ताव पारित कर संपूर्ण हिंदू जगत् का आह्वान किया गया कि वे श्रद्धेय व धर्मगुरुओं के निर्देशानुसार अपने समस्त धार्मिक व सामाजिक अनुष्ठानों से अस्पृश्यता को निकाल बाहर करें।”

“पूज्य धर्माचार्यों का ऐतिहासिक निर्देश इस प्रकार है, समस्त हिंदू समाज को अविभाज्य एकात्मता के सूत्रमें पिरोकर संगठित करने एवं स्पृश्य-अस्पृश्य की भावना व प्रवृत्ति से प्रेरित विघटन को रोकने के उद्देश्य की प्राप्ति हेतु विश्वभर के हिंदुओं को अपने पारस्परिक व्यवहार में एकात्मता एवं समानता की भावना को बराबर रखना चाहिए।” इस प्रस्ताव का महत्त्व विशद करते हुए श्री गुरुजी का मन्तव्य इस प्रकार है, “निःसंदेह उस प्रस्ताव की स्वीकृति हिंदू समाज के इतिहास में क्रांतिकारी महत्त्व का कदम माना जा सकता है। यह एक विकृत परंपरा पर सच्ची धर्म-भावना की विजय का स्वर्णिम क्षण था।”

(श्रीगुरुजी समग्र : खंड ११, पृष्ठ ३३७-३३८)

अस्पृश्यता निर्मूलन के लिए बड़ा संघर्ष डॉ. बाबासाहब अंबेडकरजी ने किया था। महाड सत्याग्रह तथा नासिक कालाराम मंदिर सत्याग्रह में उनकी धारणा यही थी कि अस्पृश्यता धर्ममान्य नहीं

है और हिंदू धर्माचार्य खुलकर सामने आए और वैसा कहे भी। दुर्भाग्यवश यह हो नहीं पाया। डॉ. बाबासाहब का अधूरा कार्य श्री गुरुजी ने उडुपी में कर दिखाया।

उडुपी सम्मेलन का एक प्रसंग ऐतिहासिक है। इस सम्मेलन में श्री. आर. भरनैय्या सेवानिवृत्त आई.ए.एस. अधिकारी तथा कर्नाटक पब्लिक सर्विस कमिशन के सदस्य उपस्थित थे। वे खुद अस्पृश्य कहलाने वाले जाति के थे। उन्हीं की अध्यक्षता में संपन्न सत्र में “हिंदवः सोदराः सर्वे” का प्रस्ताव पारित हुआ। उस पर विविध भाषण हुए। सभी प्रमुख धर्माचार्यों ने अपने मत प्रगट किए। कार्यक्रम समाप्ति के बाद मंच से उतरते ही श्री. भरनैय्याजी ने श्री गुरुजी को दृढ़ आलिगन दिया। उनकी आँखों से आँसू निकल रहे थे। गद्गद् होकर वे बोले - “आप हमारी सहायता के लिए दौड़ पड़े। इस उदात्त कार्य को आपने हाथ में लिया है, आप हमारे पीछे खड़े हो गए यह आपका श्रेष्ठ भाव है।”

(राष्ट्र-ऋषि श्रीगुरुजी खंड २, पृष्ठ ६४)

महात्मा गांधीजी ने अस्पृश्यों के लिए ‘हरिजन’ शब्द का प्रयोग किया। इस शब्द पर कड़ी आपत्ति डॉ. भीमराव अंबेडकरजी ने उठाई थी। अलग शब्द से पृथकता बढ़ेगी, मन का भाव नहीं बदलेगा ऐसा उनका कहना था। श्री गुरुजी ने भी हरिजन शब्द प्रयोग पर आपत्ति उठाई थी। “एक बार गांधीजी से भेंट होने पर मैंने यह आशंका व्यक्त की कि ‘हरिजन’ शब्द चाहे जितना भी पवित्र क्यों न हो किंतु इसका नवीन प्रचलन भी अलगाववादी चेतना को जन्म देगा और सामाजिक एकता के लिए घातक राजनीतिक स्वार्थसमूहों का निर्माण करेगा। किंतु गांधीजी इससे आशंकित नहीं दिखे। दुर्भाग्यवश तब से यह खाई पटने के बजाय वर्ष-प्रतिवर्ष और चौड़ी होती जा रही है।”

(श्रीगुरुजी समग्र : खंड ११, पृष्ठ ३३७-३३६)

अस्पृश्यता मिटाने के कुछ उपायों की भी चर्चा श्री गुरुजी ने की है।

**प्रश्न:** अस्पृश्यता की समस्या कैसे हल होगी?

**श्रीगुरुजी:** अस्पृश्यता की समस्या अत्यंत विकट हो गई है, किंतु वह स्वयमेव सुलझाने के मार्ग पर है। वह जितना शीघ्र सुलझे, उतना ही उत्तम होगा। तथापि ‘अस्पृश्यता निवारण अभियान’ का ढिंढोरा पीटते हुए कदम उठाने से ‘निवारण’ के बजाय ‘संघर्ष’ ही बढ़ता है और दुराग्रह निर्माण होकर इष्ट हेतु साध्य होने के स्थान पर समस्या और भी अधिक जटिल हो जाती है।

इसलिए हमारा यह प्रयास है कि अस्पृश्य माने जानेवालों का शुद्धीकरण करने से भी अत्यंत सरल कोई विधि तैयार की जाए। धर्मगुरुओं द्वारा यह विधि बनाई गई और उसे स्वीकृति दे दी गई, तो उस विधि के पीछे प्रत्यक्ष धर्म की ही शक्ति खड़ी हो जाएगी और विरोधकों का विरोध ढीला पड़ जाएगा।

**प्रश्न:** क्या आपको लगता है कि यह विधि इतनी आसान होगी?

**उत्तर:** इतनी सरल कि गले में माला डालकर प्रणाम और नामस्मरण कर लेना मात्र पर्याप्त होगा।

(श्रीगुरुजी समग्र : खंड ६, पृष्ठ १६६-१७०)

श्री गुरुजी द्वारा सुझाए मार्ग पर पुणे स्थित एक गणमान्य महानुभाव श्री शिरुभाऊ लिमये ने आपत्ति उठाई और प्रश्न किया -

**लिमये:** अस्पृश्यता समाप्त करने का सरल मार्ग आपने सुझाया है, ऐसा आप कहते हैं। पर अस्पृश्य कौन है? यह मेरी धारणा है कि अस्पृश्यों को शुद्ध करने का अधिकार इन धर्माचार्यों को किसने दिया? हम इन्हें धर्माचार्य नहीं मानते।

**श्रीगुरुजी :** कुछ बातों पर हमें विशेष ध्यान देना होगा। अस्पृश्यता केवल अस्पृश्यों का ही प्रश्न नहीं है। कौन कहाँ जन्म लेता है यह किसी के वश की बात नहीं है। मैं इसी कुल में जन्म लूँगा यह कोई नहीं कह सकता। अतः अस्पृश्यता, सवर्णों के संकुचित मनोभावना का नामकरण है। अतएव अस्पृश्यता समाप्त करना इसका तात्पर्य उस संकुचित भावना को समाप्त करना है। इसी प्रकार आप या मैं धर्माचार्यों को मानता हूँ या नहीं, इससे कोई संबंध नहीं है। जो अस्पृश्यता मानते हैं वे धर्माचार्यों को मानते हैं। अतएव धर्माचार्यों के माध्यम से इस प्रश्न को सुलझाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त विगत कई वर्षोंसे मेरे अनेक धर्माचार्यों एवं शंकराचार्यों से निकट के संबंध रहे हैं। जिससे मैं यह कह सकता हूँ कि धर्माचार्य यह कार्य अवश्य करेंगे। अर्थात् अस्पृश्यता समाप्त करने का कार्य अनेकों ने किया है। महात्मा गांधी का इसमें गुरुतर सहयोग है। अस्पृश्यता निवारण में जो पचासों प्रयोग हो रहे हैं, उसमें मेरा भी एक योगदान है।

दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि अपना देश इंग्लैंड या अमरीका जैसा संवैधानिक विचारधारावाला (constitutional minded) नहीं है। अपितु वह धर्मानुरूप व्यवहार करनेवाला है। हम प्रायः देखते हैं कि अनेक स्थानों पर घरों में भूमिपूजन, वास्तुशांति अथवा गृहप्रवेशादि अवसरों पर धार्मिक कार्य किए जाते हैं।

इस प्रकार धार्मिक कार्यों द्वारा सारे संकटों का, अनिष्टों का परिमार्जन होता है, ऐसी धारणा रूढ़ है। विवाहादि में भी यही देखा जाता है। स्त्री-पुरुष एकत्र आने पर उनके संसार नहीं चलेंगे अथवा संतान नहीं होगी ऐसी कोई बात नहीं है। परंतु समाज इसे स्वीकार नहीं करता। किंतु यदि समाज को ज्ञात हो जाए कि उनका विवाह हुआ है, उन पर धार्मिक संस्कार हुए हैं, तब समाज उन्हें सहज स्वीकार कर लेता है। अपने राज्य में भी यहाँ के समाजवादी मुख्यमंत्री ने कोयना बाँध निर्माण कार्य के पूर्व नाव से कोयना नदी की मुख्य जलधारा में खड़े होकर उसकी सौभाग्य द्रव्यों से विधिवत् अर्चना की। इसका क्या अर्थ निकाला जाए? जब किसी महत्वपूर्ण कार्य को सामाजिक मान्यता मिल जाती है तब वह शंकातीत हो जाता है तथा यह धार्मिक मान्यता सर्वसामान्य समाज को संतुष्ट करती है।

दूसरा यह कि मैंने सुझाए गए उपाय में यह कहा है कि तथाकथित अस्पृश्य बंधुओं ने रामनाम का उच्चारण करना चाहिए एवं हिंदू धर्माचार्यों ने उन्हें माला पहनानी चाहिए। यद्यपि राज्य संविधान के अनुसार अस्पृश्यता समाप्त हो गई है, ऐसा हम मान भी लें, तब भी अनेकों के मन में आशंका या ऐंठ बनी रहे, तब धर्माचार्यों की इस कृतिसे इन अस्पृश्यों के पीछे धर्म की मान्यता ढाल बन कर खड़ी है, यह धारणा बनती है। यदि इक्का-दुक्का इस आशंका या ऐंठ से ग्रसित हो तब चिंता करने की आवश्यकता नहीं है।

(श्रीगुरुजी समग्र : खंड ६, पृष्ठ १७६-१८१)

श्री गुरुजी के जीवनदर्शन का सबसे बड़ा वैशिष्ट्य यह था कि वे जैसा बोलते थे वैसाही व्यवहार किया करते थे। तत्त्वचर्चा में जातिभेद - अस्पृश्यता का खंडन और व्यवहार में उसका आचरण ऐसी बात उनके जीवन में नहीं थी। दो उदाहरण यहाँ पर्याप्त होंगे।

बिहार की एक उपेक्षित बस्ती में श्री गुरुजी गए थे। बस्ती के लोगों ने उनका स्वागत किया, गपशप हुई, चायपान हुआ और वे गाड़ी से आगे निकल पड़े। थोड़े ही समय के बाद गाड़ी के (ड्रायवर को) चालक को मिचली-सी आ गई और उल्टी हुई, थोड़ी देर बाद एक-एक कर के अन्य चार लोगों को भी उल्टी हो गई। सारे लोग श्री गुरुजी को उल्टी होने की राह देखने लगे और चायपान के संबंध में बातें करते रहे। श्री गुरुजी पर इस बात का कोई असर न हुआ और उन्हें उल्टी भी न हुई। उनके

सहकारियों ने उनकी पाचनशक्ति के बारे में पूछा, तब श्रीगुरुजी ने कहा, आप लोगों का ध्यान बस्ती की अस्वच्छता, गंदगी पर रहा, उस की जगह उन लोगों के आतिथ्य, अकृत्रिम स्नेह की तरफ आप लोग ध्यान देते तो आपको चाय हजम हो जाती। आपने वहाँ की गंदगी पी डाली और मैंने वहाँ का प्यार, स्नेह। उसी अमृत पर तो मैं जी रहा हूँ। उसी से मेरा पोषण होता है, तो ऐसे स्नेह से मिचली कैसे हो?

(तेजाची आरती, ले. ह. वि. दात्ये, पृ. १६६-१७०)

१९५० के पुणे के संघ-शिक्षा-वर्ग का प्रसंग है। १३०० के आस-पास स्वयंसेवक थे। भोजन के समय जलेबी भी बनाई गई थी। उसके वितरण के लिए अधिकारीवर्ग की देखरेख में योजना बनी। श्री मोरोपंत पिंगले, श्री सीतारामपंत अभ्यंकर आदि अन्य अधिकारी निरीक्षण कर रहे थे। श्री गुरुजी उनके पीछे-पीछे थे। कई स्वयंसेवकों का नाम लेकर आग्रहपूर्वक उन्हें खिला रहे थे।

दूसरी पंक्ति में अधिकारी वर्ग भोजन के लिए बैठा। आठ- नौ स्वयंसेवकों को वितरण के लिए कहा गया। एक स्वयंसेवक वितरण न करके, वैसे ही बैठा रहा। श्री गुरुजी का ध्यान उसकी तरफ गया। भोजन शुरू होने के पूर्व ही वे उसके पास गए और कहा - तू कैसे बैठा है? वितरण कर।

उस स्वयंसेवक को बहुत संकोच हो रहा था। वह नारायण 'चर्मकार' था, इसलिए संकोच कर रहा था। जब उसने श्री गुरुजी को बताया तो श्री गुरुजी को बहुत खराब लगा। श्रीगुरुजी ने उसका हाथ पकड़ करके जलेबी की थाली उसके हाथ में दी। सर्वप्रथम अपनी थाली में परोसने को श्री गुरुजी ने कहा, फिर सब स्वयंसेवकों को देने के लिए कहा।

यह प्रसंग है छोटा परंतु जीवन भर याद रहेगा, एक अत्यंत कठिन समस्या का अत्यंत सरल उत्तर अपने आचरण से देने वाला।

(श्रीगुरुजी जीवन-प्रसंग: भाग २, पृष्ठ १६०-१६१)

अस्पृश्य बंधुओं ने खुद को अस्पृश्य या हीन-दीन नहीं समझना चाहिए, ऐसी श्री गुरुजी की धारणा थी। एक स्वयंसेवक ने श्री गुरुजी से प्रश्न किया "मैं पिछड़ी जाति का हूँ। संघ में केवल सवर्ण ही नजर आते हैं। पिछड़ी एवं अनुसूचित जाति के लोगों का यथोचित प्रतिनिधित्व नहीं दिखाई देता है। इस प्रकार विषमता का व्यवहार क्यों रखा गया है? श्री गुरुजी का उत्तर इस प्रकार था -

**श्री गुरुजी** - किसी जाति के या पिछड़ी - सवर्ण जैसी पृथक्ता मैंने तो संघ में कभी भी अनुभव नहीं की है। पिछड़ी जाति के या अनुसूचित जाति के लोग अपने को पिछड़े या अनुसूचित क्यों समझ बैठे हैं, किसी की समझ में आना कठिन है। अपनी जाति या गुट का ही विचार उनके दिमाग पर सवार रहना ठीक नहीं है। दिल और दिमाग पर हावी हुआ यह विचार इसलिए अबतक चलता आ रहा है, क्योंकि कुछ लोग इससे फायदा उठाना चाहते हैं और इस प्रवृत्ति को राजनीति खेलनेवाले नेता प्रोत्साहित करते रहते हैं।

ऐसे विकृत विचारों से संघ दूर है। जाति, भाषा या अन्य तथाकथित भेदों का विचार छोड़कर हम अपने हिंदू समाज को संगठित करना चाहते हैं। प्रत्येक स्थान पर संघ का काम बंधुवत आपसी स्नेहभाव को वृद्धिगत करने पर ही आधारित है। किसी एक या दूसरे जाति विशेष के लिए नहीं, अपितु संपूर्ण समाजजीवन सुसंगठित करने का हम प्रयत्न करते हैं।

अस्पृश्यता निवारण (निर्मूलन) के लिए समाज में संघर्ष करना चाहिए, आंदोलन करना चाहिए, कोई ठोस प्रोग्राम देना चाहिए ऐसी धारणा अनेक लोगों की है। संघर्ष या आंदोलन से अस्पृश्यता समाप्त होगी इस पर श्री गुरुजी का विश्वास नहीं था। आंदोलन तथा संघर्ष से केवल पृथक्ता ही बढ़ेगी,

एकात्मता, समरसता निर्माण नहीं होगी, ऐसा उनका पक्का विश्वास था। इस संदर्भ में श्री गुरुजी की सोच इस प्रकार की थी।

(1972 में ठाणे में अखिल भारतीय वर्ग हुआ। इस वर्ग में हुए प्रश्नोत्तर में से एक प्रश्नोत्तर)

**प्रश्न** - संघ में अस्पृश्यता नहीं मानते, परंतु समाज में उसका निवारण करने के लिए और भी कोई प्रोग्राम लेने का हम सोच सकते हैं क्या?

**उत्तर** - उसका कोई प्रोग्राम लेने से काम बनेगा क्या? महात्माजी ने अस्पृश्यता निवारण को कांग्रेस के कार्यक्रम में सम्मिलित करवाया और उसके लिए बड़े प्रयत्न किए। उसका परिणाम है कि हरिजन दूर गए। अलग नाम देने से पृथक्ता की भावना बढ़ी। गांधीजी ने तो यह नाम इसलिए दिया था कि पुराने नामों के साथ जो सहचारी भाव है, उसके कारण जो भाव मन में उत्पन्न होते हैं, वे 'हरिजन' नाम के साथ उत्पन्न नहीं होंगे। उन्होंने सोचा तो ठीक था, परंतु वह भाव दूर नहीं हुआ।

एक हरिजन नेता से डॉक्टर हेडगेवारजी का और मेरा, हम दोनों का संबंध था। वे कहते थे संघकार्य बहुत अच्छा है परंतु संघ हमारा सच्चा शत्रु है। क्योंकि बाकी सब हमारा पृथक् अस्तित्व स्वीकार करते हैं। हमारे पृथक् अधिकार की बातें करते हैं, परंतु संघ में जाकर हमारी पृथक्ता समाप्त हो जाएगी और हम केवल हिंदू रह जाएंगे। फिर विशेषाधिकार कैसे मिलेंगे? पृथक्ता का भाव उनमें कटुता तक पहुँच गया था। इसी कटुता और पृथक्ता के भाव के कारण उनके मनमें यह विचार आया कि यदि हिंदू समाज में डूब गए तो हमारा क्या होगा?

१९४१ में एक महार लड़का मुझसे मिलने आया। उसने पूछा कि संघ में आने से हमें क्या लाभ होगा? मैंने कहा कि तुम अपने को पृथक् मानते हो और दूसरे तुमको पृथक् मानते हैं, यह पृथक्ता की दीवार ढह जाएगी। यह लाभ है या नहीं?

पृथक्ता का पोषण न करते हुए उनकी व्यथाएँ दूर होगी ऐसा यदि कुछ सोच सकते हैं, तो सोचना होगा। अन्यथा समस्याएँ खड़ी होंगी।

छुआछूत का भाव बहुत गहरा पहुँचा हुआ है। ब्राह्मणों में भी छोटी बड़ी जातियाँ हैं। जिसमें एक दूसरे के हाथ का पानी नहीं पीते थे। अब तो सब ठीक हो गया है, परंतु पहले यह छुआछूत भावना होती थी। हरिजनों में भी एक दूसरे की छाया तक सहन न करनेवाले लोग हैं। "प्रॉब्लेम इज कोलोसल"। अस्पृश्यता, केवल ब्राह्मण आदि ही पालन करते हैं, इतना कहना पर्याप्त नहीं है। इसमें बहुत परिश्रम करना पड़ेगा बहुत शिक्षा देनी होगी। पुराने संस्कार धोने होंगे, नए देने होंगे। बहुत वर्षों से अंदर घुसी हुई ऐसी ये विचित्र भावनाएँ हैं, जिन्हें बलात् से दूर करने से काम नहीं चलेगा। इससे पृथक्ता बढ़ेगी। इस संबंध में बहुत सोचना पड़ेगा।

जिन्हें अस्पृश्य कहा गया उनके बारे में तनिक-सा भी हीन भाव श्री गुरुजी के व्यवहार में नहीं था। अपने बंधुओं के बारे में अत्यंत गौरवपूर्ण शब्दों में वे कहते हैं-यह कहना कि ये तथाकथित अस्पृश्य जातियाँ मन-मस्तिष्क संबंधी गुणों में आनुवांशिक रूप से ही अक्षम हैं और वे आनेवाले दीर्घ काल तक शेष समाज के स्तर तक नहीं पहुँच सकती, उनका अपमान ही नहीं, बल्कि तथ्यों का विडंबनापूर्ण उपहास भी है। इतिहास साक्षी है कि गत एक हजार वर्षों के राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों में ये तथाकथित अस्पृश्य ही अग्रणी रहे हैं। महाराणा प्रताप, गुरुगोविंदसिंह और छत्रपति शिवाजी की सेनाओं के सर्वाधिक पराक्रमी व कट्टर योद्धाओं में यही लोग रहे हैं। दिल्ली तथा बीजापूर की विद्रोही शक्तियों के विरुद्ध छत्रपति शिवाजी के कुछ अति महत्त्वपूर्ण युद्धों में हमारे इन्हीं शूरवीर और साहसी बंधुओं ने मानव आपूर्ति एवं नेतृत्व प्रदान किया था।



(श्रीगुरुजी समग्र : खंड ११, पृष्ठ ३४१)

अपने आध्यात्मिक जगत् में अपने इन बंधुओं का योगदान भी अतीव श्रेष्ठ है। उत्तर में रैदास, महाराष्ट्र में चोखामेला, इतना ही नहीं तो रामायण और महाभारत के रचयिता भी उच्च जाति के नहीं थे। ऐसे श्रेष्ठ महापुरुष निर्माण करने वाली इन जातियों की अवहेलना करना पाप है। श्री गुरुजी का मन्तव्य ऐसा है - “इन जातियों में ऐसे असंख्य साधु संन्यासियों ने जन्म लिया है, जिन्होंने हमारे समाज के सभी वर्गों की असीम श्रद्धा-भक्ति प्राप्त की है। इन भाइयों में हमारे धर्म के प्रति अटूट श्रद्धा तथा विश्वास, संपूर्ण समाज-हेतु सदैव प्रेरणादायक रहा है। धर्म के नाम पर शेष समाज के हाथों सभी प्रकार का अपमान तथा उत्पीड़न सहकर भी इन बंधुओं ने धर्म-परिवर्तन के प्रलोभनों का दृढ़ता से प्रतिकार किया है। देश-विभाजन के दौर में बंगाल के लाखों नामशुद्धों-अछूतों - ने इस्लाम ग्रहण कर अपने प्राण बचाने के स्थान पर अवर्णनीय कष्ट सहन करना अधिक पसंद किया। बाद में इन्हें भारत के सीमा-क्षेत्रों में ही हिंदू के रूप में अप्रवासी (निर्वासित) बनना पड़ा।”

(श्रीगुरुजी समग्र : खंड ११, पृष्ठ ३४१)

आज समाज में चातुर्वर्ण्य, जातिव्यवस्था, अस्पृश्यता का जो चित्र दिखता है वह सामाजिक समरसता के लिए अत्यंत बाधक है। श्री गुरुजी इस सामाजिक रोग का जड़ से निर्मूलन चाहते थे। इस संदर्भ में उनकी सोच ऊपर-ऊपर की नहीं थी। ‘ऑपरेशन सक्सेसफुल, पेशंट इज डेड’ जैसी उपाय-योजना वे नहीं चाहते थे। इसलिए चातुर्वर्ण्य क्या है, जातिव्यवस्था क्या थी इसकी वे शास्त्रीय चिकित्सा करते हैं। आज उसकी कोई उपयुक्तता नहीं रही यह भी बताते हैं। आज सर्व प्राथमिक आवश्यकता समाज में एकात्म भाव जगाने की है। इसी भाव- जागरण से समाज में समरसता निर्माण होगी ऐसा उनका विश्वास था। श्रीगुरुजी का मार्ग अन्य सभी मार्गों से अलग था। जो लोग सामाजिक संघर्ष के रास्ते पर चल रहे थे, या जो लोग हरिजन उद्धार के रास्ते पर चल रहे थे उन्होंने या तो श्री गुरुजी को समझा नहीं या जानबूझकर उनके बारे में गलत-फहमियाँ निर्माण की। इससे श्री गुरुजी नामक व्यक्ति का कोई नुकसान नहीं हुआ लेकिन सामाजिक समस्याएँ और विकराल बनती चली जा रही हैं। इतिहास जब निरपेक्ष भाव से जाति निर्मूलन अभियान का लेखा-जोखा लेगा तब उसे यह मान्य करना पड़ेगा कि श्री गुरुजी की भूमिका समाज के सार्वत्रिक और सार्वकालिक कल्याण की थी।

## वनवासी बांधव

सामाजिक समरसता का विचार करते समय वनवासी बांधवों का भी विचार करना पड़ता है। अंग्रेजों ने उन्हें आदिवासी यह संज्ञा दी। वे आदिवासी और बाकी सब बाहर के ऐसा इसका अर्थ होता है। अंग्रेजों के प्रोत्साहन से विदेशी मिशनरियों ने काफी भ्रम सारे देश में फैलाए हैं। आदिवासी भारत के मूल निवासी हैं। आर्यों ने उनपर आक्रमण कर उन्हें जंगलों में भेज दिया। आदिवासी को अपना धर्म नहीं। वे निसर्गपूजक, प्राणिपूजक हैं। हिंदू धर्म से उनका कोई रिश्ता नहीं। हिंदू समाज व्यवस्था में उनको कोई स्थान नहीं। वर्णव्यवस्था में उनकी गिनती नहीं होती इत्यादि-इत्यादि।

आदिवासी शब्दप्रयोग और उसके कारण निर्माण किए गए अनेक भ्रमों के खतरे श्री गुरुजी जानते थे। गिरि-कंदरों में निवास करनेवाले अपने बंधु को वे पराया नहीं मानते थे। उन्होंने उनके लिए ‘वनवासी’ शब्द का प्रयोग किया। शहर में रहनेवाला नगरवासी, ग्रामों में रहनेवाला ग्रामवासी और वनों में रहनेवाला वनवासी ऐसी शब्दरचना उन्होंने की। नगरवासी, ग्रामवासी, वनवासी हम सब भारतवासी

हैं। भारत माँ के सपूत हैं। एक ही विराट समाज के अंग हैं। एक ही राष्ट्र के घटक हैं, ऐसी श्रीगुरुजी की अवधारणा थी।

वनों में रहनेवाले अपने बंधुजनों के साथ हमको समरस होना चाहिए, इसलिए क्या करना चाहिए यह बताते हुए श्रीगुरुजी कहते हैं, “अब यह हमारा परम कर्तव्य है कि हम इन उपेक्षित बंधुओं के बीच जाएँ और उनके जीवनस्तर में सुधार लाने हेतु पूरी शक्ति से जुट जाएँ। हमें ऐसी योजनाएँ बनानी होंगी जिनसे उनकी मूलभूत भौतिक आवश्यकताओं एवं सुख-साधनों की पूर्ति हो सके। उन्हें इन योजनाओं से लाभान्वित कराने हेतु हमें विद्यालय, छात्रावास व प्रशिक्षण केंद्र खोलने होंगे।” शेष हिंदू समाज के साथ उनको समरस करने हेतु ‘हमें ऊँच-नीच की मिथ्या धारणाओं का परित्याग कर समता की भावना के साथ उनमें घुलना-मिलना चाहिए।’

(श्रीगुरुजी समग्र: खंड ११, पृष्ठ ३४५)

वनवासी बांधवों की जीवनशैली का अच्छा ज्ञान श्रीगुरुजी को था। उनका घुमंतू स्वभाव, किसी एक जगह टिके न रहने की प्रवृत्ति वे जानते थे। एक जगह स्थिर होने से ही शिक्षा, संस्कार संभव है। यह कार्य “केवल मानवीय सहृदयता ही जनजाति को स्थिर जीवन अपनाने हेतु प्रेरित कर सकती है” ऐसा श्री गुरुजी का दृष्टिकोण था। श्री गुरुजी इन बांधवों के बारे में आगे बताते हैं, “वन्य प्रांतों में निवास करने वाले इन बंधुओं से मिलने पर अनुभव होता है कि वे लोग अनेक गुणों से परिपूर्ण हैं। साहस, बुद्धिमत्ता, परिश्रम-शीलता, सत्यनिष्ठा, निश्चल आत्मीयता तथा सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक योग्यता। हमें कुछ श्रेष्ठ सैनिक इसी समाज ने दिए हैं।” वनवासी क्षेत्र में विदेशी धर्म-प्रचारक अनेकों सालों से कार्यरत हैं। उनके कार्य से राष्ट्रीय एकात्मता को गहरा संकट पैदा हुआ है, यह वे जानते थे। लेकिन उनपर केवल टीका-टिप्पणी करना उन्हें विशेष पसंद नहीं था। वे कहते हैं - “विदेशी धर्मप्रचारकों की कार्यशैली का भी अध्ययन आवश्यक है। उनके व्यवहार में कितना प्रबल समर्पण एवं प्रयास दिखाई देता है। वे प्रसन्नतापूर्वक कितने भारी कष्ट सहन करते हैं। सुदूर देशों से आकर जंगलों के बीच स्थानीय लोगों के मध्य झोपड़ियों में बसना, निःसंदेह प्रशंसनीय व अनुकरणीय है। वे उन लोगों में घुलमिल कर उनकी भाषा सीखकर उनके रीति-रिवाजों के साथ एकरूप हो जाते हैं। उनका व्यवहार अत्यंत मृदुल एवं स्नेहपूर्ण होता है। क्या हम भी इन मिशनरियों के अनुभव से कुछ लाभ नहीं उठा सकते?”

(श्रीगुरुजी समग्र: खंड ११, पृष्ठ ३४६)

वनवासी बंधु शेष हिंदू समाज से इसलिए कटे रहे कि सैकड़ों सालों तक हिंदू समाज ने उनकी ओर ध्यान ही नहीं दिया। स्नेह - संपर्क का अभाव रहा। उन्हें शिक्षा से वंचित रखा गया। उपयुक्त तकनीकी शिक्षा तथा अन्य प्रशिक्षण के अभाव के कारण उनकी उत्पादनक्षमता घटी और वे गरीब बनते गए। धर्म का ज्ञान भी उनके पास न जाने के कारण अंधविश्वास और उससे जुड़े कर्मकाण्डों में वे फँसे रहे। इन सारी बातों का स्मरण श्री गुरुजी कराते हैं। और सभी हिंदुओं को स्मरण दिलाते हैं कि कितनी भी कठिनाइयों से गुजरना पड़े, कितने भी कष्ट उठाने पड़ें, हमें वनवासी अंचलों में जाकर कार्य करना पड़ेगा। शेष हिंदू समाज का कार्य है कि वह उनके बीच जाएँ, उन्हें शिक्षित बनाएँ और उनके सांस्कृतिक स्तर तथा जीवनस्थितियों में उत्कर्ष लाकर अपनी भूल का प्रायश्चित्त करें।”

(श्रीगुरुजी समग्र: खंड ११, पृष्ठ ३४७)

सारांश में अपने वनवासी बंधुओं के बारे में श्री गुरुजी का दृष्टिकोण अपनत्व का है। वनवासी बंधुओं की आज की बुरी स्थिति का कारण शेष समाज द्वारा उनकी की गई उपेक्षा है, ऐसा वे बताते

हैं। प्रायश्चित्त भाव से- दया भाव से नहीं -कर्तव्य भाव से उनकी सेवा का वे हृदय से आवाहन करते हैं। श्री गुरुजी के इसी दृष्टिकोण के कारण वनवासी कल्याण आश्रम की स्थापना हुई और वनवासी बांधवों की सेवा का माध्यम बनकर आज श्रेष्ठतम कार्य इस संस्था के माध्यम से पूरे देश में हो रहा है।

## सेवा

सामाजिक समरसता के संदर्भ में सेवाकार्य का योगदान अनन्यसाधारण है। समाज में सेवा के कार्य कई प्रकार चलते रहते हैं। उनकी प्रेरणा भी भिन्न-भिन्न प्रकार की रहती है। अनेक सेवाकार्य पुण्यसंचय के हेतु से होते हैं। किसी सेवा कार्य की प्रेरणा भूतदया होती है। कई लोग प्रसिद्धि पाने के लिए सेवा कार्य करते हैं। किसी को सेवाकार्य से चरितार्थ चलाना होता है। इसलिए सेवा कार्य करते रहते हैं। अन्य कोई राजनीति में प्रवेश पाने के लिए सेवाकार्य एक माध्यम समझते हैं। श्री गुरुजी ने सेवा का एक अतिव्यापक दृष्टिकोण सब के सामने रखा है।

श्री गुरुजी के व्यक्तित्व तथा सोच पर स्वामी विवेकानंदजी के विचारों का गहरा प्रभाव था। स्वामी विवेकानंदजी ने “दरिद्र नारायण” यह शब्द दिया है। दरिद्र आदमी में नारायण का वास है ऐसा मान कर शिवभाव से जीव की सेवा करनी चाहिए। श्रीगुरुजी इसी मार्गपर चलनेवाले एक साधक थे। वे कहते हैं, “जितने दीन-दुखी मिलें वे सब भगवान के स्वरूप हैं और इस प्रकार भगवान ने अपनी सेवा का अवसर हमें प्रदान किया है, ऐसा समझें और इस भाव से उनकी प्रत्यक्ष सेवा करने के लिए उद्यत हों।”

(श्रीगुरुजी समग्र: खंड ५, पृष्ठ ३६)

आज समाज में दुःख-दैन्य प्रचुर मात्रा में है। एक तरफ ऐसा समाज का वर्ग है जिसके पास साधनसंपत्ति की कमी नहीं तो दूसरी जगह ऐसा वर्ग है जो सर्वथा निर्धन है। एक समय का पेट भी वे भर नहीं पाते। ऐसे बंधुओं का श्री गुरुजी को अहोरात्र स्मरण रहा करता था। किसी एक कार्यकर्ता ने बड़ी आत्मीयता से श्री गुरुजी को शुद्ध घी का एक डिब्बा भेज दिया और लिखा कि शरीर स्वास्थ्य के लिए रोज शुद्ध घी खाना चाहिए। उसको पत्र लिखते हुए श्री गुरुजी लिखते हैं कि अपने देश में करोड़ों बंधुओं को एक समय का भोजन तक नहीं मिलता, ऐसे में रोज शुद्ध घी खाना मेरे लिए संभवनीय नहीं है। इसी कारण श्रीगुरुजी केवल एक समय ही भोजन करते थे। समरसता का इससे बढ़कर श्रेष्ठ आचरण और कौनसा हो सकता है?

भूखे, नंगे, प्यासे, बीमार गली-गली में सड़क के किनारे दिखते हैं। उनका स्मरण रखते हुए श्री गुरुजी कहते हैं, “इस स्थिति में हम सब ऐसा प्रयत्न करें कि मनुष्य को भूखा नहीं रहने देंगे। प्रत्येक को ऐसा समझना है कि किसी एक पीड़ित बंधु का भार उसके ऊपर ही है।” अपना सच्चा धर्म क्या है इसका भी बार-बार उन्होंने स्मरण कराया है। “समाज की ओर दुर्लक्ष करना अपना धर्म नहीं। कई बार लोग धार्मिक बनने का अर्थ विचित्र-सा लगा लेते हैं। वे त्रिपुंड लगाते हैं, चंदन लगाते हैं, घंटी बजा-बजाकर लंबी-चौड़ी पूजा करते हैं, परंतु समाज का ध्यान नहीं लगाते। यह सब धर्म नहीं, यह तो धार्मिक बनने का आभास उत्पन्न करना मात्र हुआ। हमारा सच्चा धर्म तो यही है कि यह समाज अपना है, अतः हम इसका चिंतन करें और हर एक आदमी स्वयंभू पोषण कर सके - ऐसा स्वाभिमान उसमें निर्माण करें।”

(श्रीगुरुजी समग्र: खंड ५, पृष्ठ ३६)

नर को भगवत्स्वरूप मानकर उसकी सेवा करनी चाहिए यह श्री गुरुजी का कथन था। सेवा के माध्यम से क्या होना चाहिए इसको स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं - “समाज को स्वत्वसंपन्न, उत्कर्षमय, स्वाभिमानी बनाना है। समाज की सुरक्षा के लिए प्रयत्न करना है। इसलिए आवश्यक है कि अपने सब बंधुओं को इन विकृतियों से दूर रखकर, हम सच्ची, हार्दिक तथा आत्मीयतापूर्ण एकता उत्पन्न करें। अंतःकरण की आत्मीय भावना थोथी नहीं, सच्ची होनी चाहिए। मुँह में कुछ और मन में कुछ ऐसी दिखावटी सहानुभूति नहीं चाहिए। समाज के प्रत्येक बंधु के लिए हृदय में खरी आत्मीयता का भाव आवश्यक है।”

(श्रीगुरुजी समग्र: खंड ३, पृष्ठ २४६)

दूसरे शब्दों में समाज में समरसता लाने के लिए अपने मन का भाव कैसा होना चाहिए इसको श्री गुरुजी ने परिभाषित किया है। सामाजिक समरसता यह मन का गुण है, आत्मीयता के बिना वह उत्पन्न होना संभव नहीं। इसलिए हम देखते हैं कि श्रीगुरुजी बार-बार आत्मीय भावना का स्मरण दिलाते हैं।

हिंदू समाज रचना के अंतर्गत समाज के सभी घटकों में किस प्रकार समरसता भाव का जागरण करना चाहिए यह बात जैसे श्री गुरुजी ने बताई है, उसी प्रकार ‘धार्मिक अल्पसंख्य’ इन शब्दों से जिनका उल्लेख किया जाता है, ऐसे क्रिश्चियन तथा मुसलमान बंधुओं ने किस प्रकार समाज के साथ समरस होना चाहिए यह भी बात उन्होंने बताई है। वे कहते हैं - “भारत के अल्पसंख्यकों को अपनी पृथकता की बात न करते हुए राष्ट्रजीवन के साथ समरस होना ही चाहिए। यदि वे अपनी पृथकता की बात सोचते रहे, तो वह बढ़ती ही जाएगी। यह भी दिखाई देता है कि इस अलगाव को उकसाते रहने से वह बढ़ता ही गया और अब प्रत्येक प्रदेश में ‘छोटे पाकिस्तान की’ माँग जड़ पकड़ती जा रही है। राजनीतिक स्वार्थ के लिए सत्ताधारी और अन्य राजनीतिक नेता सभी अल्पसंख्यकों को ‘अल्पसंख्यक’ इस रूप में सिर चढ़ा रहे हैं। इससे अलगाव को निरंतर बढ़ावा मिल रहा है, जो घातक है। राष्ट्र-जीवन के साथ समरस होने तथा पृथकता को सर्वथा त्याज्य मानने से अल्पसंख्यक राष्ट्रजीवन में पूर्णतः विलीन होंगे, यही इस समस्या का हल है।

यही कारण है कि अल्पसंख्यकों को मैं यह आवाहन करता हूँ कि वे हिंदू धर्म में वापस आएँ। उनके पूर्वज हिंदू ही थे और उनके अपने मूल धर्म में वापस आने से वे राष्ट्रजीवन के साथ सुगमता से समरस होंगे। आजकल शुद्धीकरण द्वारा हिंदुओं को हिंदू धर्म में स्वीकार किया जाता है। किंतु भारत के अधिकांश अहिंदू मूलतः हिंदू रहने के कारण, मैं उसे शुद्धीकरण न कहकर, केवल ‘परावर्तन’ अर्थात् ‘स्वपरिवार में वापस आना’ यही शब्दप्रयोग करता हूँ।

**प्रश्न :** क्या आपको ऐसा लगता है कि उन्हें हिंदू धर्म में स्वीकार करते समय ‘शुद्धीकरण-विधि’ की आवश्यकता नहीं है?

**श्री गुरुजी :** शुद्धीकरण विधि तो हो, किंतु वह केवल यह भावना उत्पन्न करने के उद्देश्य से कि हम हिंदू धर्म में आए हैं। वह एक भावनात्मक आवश्यकता मात्र है। परमेश्वर की आराधना, अपनी-अपनी रूढ़ पुरानी पद्धति के अनुसार ही करें। इसमें कोई आपत्ति नहीं। हिंदू धर्म ने परमेश्वर का अस्तित्व स्वीकार कर लेने के बाद, उसकी पूजा की विविध पद्धतियाँ समाविष्ट कर ली हैं। अतः पुनः हिंदू धर्म में

आनेवाले व्यक्तियों को आराधना की जिस पद्धति का अभ्यास पड़ गया है, उसे ही वे आगे भी चालू रखें। इसमें आपत्त नहीं होनी चाहिए।

तथापि राष्ट्र-जीवन में समरसता और एकात्मता निर्माण करने के बजाय अलगाव और फूट को ही बढ़ावा दिया जाता है और इसके लिए जो लोग कारणीभूत हैं, वे अपने आपको जिम्मेदार कहते हैं। उर्दू भाषा का ही उदाहरण लें। भारत की जो राष्ट्रभाषा है, उसे स्वीकार करने के बजाय उर्दू के लिए राजमान्यता माँगी जा रही है। इसी माँग का समर्थन करनेवाले राजनीतिक नेता ही हैं। तुर्किस्तान में तुर्की भाषा, पर्शिया में फारसी और अरबस्तान में अरबी भाषा ही है। सारांश यह है कि किसी भी प्रकार का अलगाव होना ही नहीं चाहिए। अलगाव रखने देना भी उचित नहीं। उर्दू भाषा को राजमान्यता का प्रश्न ही नहीं उठता। मैं तो यह भी कहता हूँ कि अल्पसंख्यकों ने अपने सामने रुस्तम का आदर्श रखना यह भी अलगाव ही है। रुस्तम अपने देश का तो था ही नहीं, वह मुसलमान भी नहीं था। वह अपने देश का श्रेष्ठ पुरुष नहीं था, इसलिए 'राष्ट्रपुरुष' को जो स्थान प्राप्त होता है, वह रुस्तम को प्राप्त नहीं होना चाहिए। रुस्तम के स्थान पर वे रामचंद्र का आदर्श रखें। जो अपने देश के आदर्श हैं, वे ही उदाहरण के रूप में सामने रखे जाने चाहिए। अब यहाँ से प्रारंभ कर राष्ट्र-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पूर्ण समरसता कैसी हो - यह बतलाने के लिए बुद्धिपुरस्पर मैंने यह एक उदाहरण दिया है। इससे संपूर्ण समरसता का अर्थ योग्य रीति से ध्यान में आएगा।

(श्रीगुरुजी समग्र: खंड ६, पृष्ठ १६४-१६५)

### वैश्विक आ्याम

सार्वत्रिक बंधुभाव की बात तो सभी करते हैं। लेकिन जगत् में फैले मानव-मानव में भ्रातृभाव का जागरण कैसे होगा, उसका आधार क्या है, इसपर एकवाक्यता नहीं बनती। सब ईसाई बनेंगे तो भ्रातृभाव वैश्विक होगा, या सब मुस्लिम बनेंगे तो भ्रातृभाव वैश्विक होगा, या दुनिया में सभी जगह क्रांति होकर सर्वहारा की प्रभुसत्ता बनेगी तो भ्रातृभाव पैदा होगा ऐसा विशिष्ट मतावलंबी लोगों का कहना है। श्री गुरुजी ने कभी नहीं कहा कि दुनिया ने हिंदू बनना चाहिए। उन्होंने कहा पहले हम परिपूर्ण मानव बनने का प्रयास करें। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चतुर्विध पुरुषार्थ को अपने जीवन में चरितार्थ करना ही परिपूर्ण मानव बनना है। "संसार को इन चारों पुरुषार्थों के चिरंतन सत्य का बोध कराने की हमारे अंदर क्षमता आनी चाहिए। हमारे ऊपर यह दायित्व है कि हम जगत् के यच्चयावत् मानव को अपने उदाहरण और आदर्श से इस सत्य का बोध कराएँ। यह बात जगत् के लिए कल्याणकारी भी है।"

(श्रीगुरुजी समग्र: खंड ५, पृष्ठ १३१)

यह क्षमता जाति-पाँति में बँटने से नहीं आएगी, छुआ-छूत का पालन करने से नहीं आएगी, ऊँच-नीच का भाव संजोग कर नहीं आएगी। समरस समाज जीवन खड़ा होने से ही इस क्षमता का हमारे अंदर उदय होगा। भाईचारा, भ्रातृभाव जीवन में कैसे लाना यह खुद जीकर दुनिया के सामने उसका उदाहरण हमको रखना पड़ेगा। श्री गुरुजी की सोच की दिशा इसप्रकार की थी। श्री गुरुजी ने हिंदू समाज संघटन के कार्य को अपना जीवन लक्ष्य माना। हिंदू संघटन याने सभी हिंदुओं में समानता, भ्रातृभाव और एकात्मता का बोध निर्माण करना। एक-दूसरे के साथ मानसिक दृष्टि से समरस हुए बिना भ्रातृभाव-एकात्मता संभव नहीं। उनके जीवन का मंत्र था, 'मैं नहीं तू ही।' मैं और तू कोई अलग चीज नहीं, एक ही परमतत्त्व का अलग रूप है। तुझ में मैं और मुझ में तू समाया हुआ है, यह उनकी आत्मानुभूति थी। इसकारण वे कोई भेदभाव, श्रेष्ठ-कनिष्ठ, छोटा-बड़ा, सवर्ण-अवर्ण, स्पृश्य-अस्पृश्य

ऐसा भाव नहीं रखते थे। सभी मानव- मात्र के विषय में उनके अंतःकरण में विशाल प्रेम-सरिता का प्रवाह निरंतर बहता था। अपने व्यक्तिगत जीवन में वे समरस पुरुष बन गए थे। समरसता का एक जीता-जागता चलता-फिरता आदर्श ही उन्होंने अपने जीवन से खड़ा किया। यही उनकी श्रेष्ठतम विशेषता है।

◆◆

## परिशिष्ट

विश्व हिन्दू परिषद द्वारा आयोजित कर्नाटक प्रान्त सम्मेलन सफलतापूर्वक सम्पन्न होने के पश्चात

कर्नाटक के कार्यकर्ताओं को

श्री गुरुजी द्वारा लिखा हुआ पत्र

“विश्व हिन्दू परिषद का कर्नाटक प्रान्त सम्मेलन संपन्न हुआ। आयोजक तथा कार्यकर्ताओं की अपेक्षा से कई गुना अधिक सफल वातावरण में संपन्न हुआ। इसलिए स्वाभाविक है कि हमारी अपेक्षाएँ भी बढ़ेंगी। पर इस का अर्थ यह नहीं कि कोई चमत्कार होगा और स्थिति बदलेगी। अनुगामी कार्य बढ़ाने की बहुत आवश्यकता है। सम्मेलन मानो ऐसा हुआ, जैसे हिन्दू समाज की एकता और परिवर्तन के लिए फूँका गया शंख। पर इस यश से हमें आत्मसंतुष्ट नहीं रहना चाहिए।”

“एक उदाहरण प्रस्तुत करता हूँ। अस्पृश्यता का अभिशाप नष्ट करने का प्रस्ताव पारित हुआ। हमारे सभी पंथों के सभी आचार्य, धर्मगुरु तथा मठाधिपतियों ने इस प्रस्ताव को पूरा समर्थन और आशीर्वाद दिया। परंतु इस प्रस्ताव को प्रत्यक्ष आचरण में उतारने के लिए केवल पवित्र शब्द काफी नहीं है। सदियों की कुरीतियाँ केवल शब्द और सद्भावना से नहीं मिटतीं। अथक परिश्रम और योग्य प्रचार करना पड़ेगा। नगर- नगर, गाँव-गाँव, घर- घर में जा कर लोगों को बताना पड़ेगा कि अस्पृश्यता नष्ट करने का निर्णय हो चुका है। और यह केवल समय की आधुनिकता के दबाव में नहीं, बल्कि हृदय से हुआ परिवर्तन है। भूतकाल में हम ने जो गलतियाँ की हैं, उसे सुधारने के लिए अंतःकरण से इस परिवर्तन का स्वीकार कीजिए। अंतःकरण में, नैतिकता में, भाव में, बर्ताव में परिवर्तन लाना अत्यंत आवश्यक है। पिछड़े हुए समाज का आर्थिक, राजनीतिक स्तर सुधार कर उन्हें सारे समाज के साथ लाना एक अत्यंत कठिन कार्य है। पर यह भी काफी नहीं है; क्योंकि ऐसी ‘लाई हुई समानता’ में अलगाव का भाव तो है ही। इसलिए केवल आर्थिक और राजनीतिक समानता से काम नहीं बनेगा। हमें सच्चा परिवर्तन, संपूर्ण एकात्मता लानी है। यह परिवर्तन आना सरकार, राजनीतिक पक्ष आदि के बस की बात नहीं है। एकात्मता के नाम पर जोड़-तोड़ की चालाक जादूगरी दिखाने वाले राजनीतिक पक्षों को यह कार्य नहीं जमेगा। अंतःकरणपूर्वक कार्य करना, नैतिक और आध्यात्मिक स्तर पर इस कार्य को बढ़ाते रहना आवश्यक है। सम्मेलन में उपस्थित सभी लोग, सम्मेलन के प्रति आस्था रखने वाले भी

लोग एकत्रित हों और कंधे से कंधा मिला कर इस जगन्नाथ के रथ पर जुट जाओ और एक ही शक्तिशाली प्रहार से इस प्राचीन कुप्रथा को नष्ट कर दो।”

“दूसरा भी एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। हमारे समाज को धर्म के तत्त्वों के बारे में शिक्षित करना। इस में सर्वसाधारण धर्म के तत्त्व, सर्वसमावेशक धर्म के तत्त्व तथा लोगों ने जिस पंथ में जन्म लिया है उस के तत्त्व आदि सारी बातें आती हैं। इस शिक्षा का प्रारंभ हम ने स्वयं से ही करना आवश्यक है; क्योंकि जो व्यक्ति खुद शिक्षित है तथा उस शिक्षा के तत्त्व अपने खुद के आचरण में लाता है, उसी का कहना लोग मानते हैं। संपूर्ण विश्वास, संपूर्ण भक्ति, विशुद्ध चरित्र, विशुद्ध शब्द, विशुद्ध भाव और कार्य ही व्यक्ति को दूसरों को शिक्षा देने का अधिकार देते हैं। इसलिए हमें स्वयं में यह सारे गुण निर्माण करने चाहिए।”

“हमें यह शिक्षा देने के लिए देश के कोने-कोने में जाना आवश्यक है। दूर-दूर तक के गाँवों में, पहाड़ों में, घने जंगलों में; ऐसे लोगों के पास जिन के लिए धर्म एक अंधविश्वास मात्र रह गया है या धर्म तत्त्व सीखने का और उन का आचरण करने का मौका ही उन्हें कभी प्राप्त नहीं हुआ है। हमें यह कार्य करते हुए अपरिमित कष्ट, संकट झेलने पड़ेंगे। शायद कोई हमें धन्यवाद भी न देगा। परंतु कोई चमत्कार या तुरंत परिणामों की हम अपेक्षा ही न रखें। कठिनाइयों का सामना करते, अत्यंत संयम के साथ हम आगे बढ़ेंगे - एक सच्चे कर्मयोगी की तरह।”

“सभी दोषों के लिए दूसरों पर अंगुलि उठाने में कुछ कार्यकर्ताओं को आनंद आता है। कुछ लोग राजनीति की विकृतियों पर दोषारोपण करते हैं। तो कुछ लोग ईसाई, इस्लाम तथा अन्य आक्रमक पंथों की आलोचना करते रहते हैं। हमारे कार्यकर्ता ऐसे पूर्वाग्रहों से स्वयं को मुक्त रखें और अपने लोग, अपना धर्म इन के लिए सच्चे भाव से कार्य करें। हमारे जिन बंधुओं को सहायता की आवश्यकता है, उन की मदद कर उन का दुख दूर करें। इस सेवा कार्य में कोई भेदभाव न करें। हमें सब की सेवा, सहायता करनी है; फिर चाहे वह ईसाई हो, मुसलमान हो या अन्य किसी पंथ का हो; क्योंकि संकट, मुसीबतें, दुख तो सभी पर बरस पड़ते हैं। वे कोई भेदभाव नहीं करते और किसी भी दुखी व्यक्ति की सहायता करना, केवल सांत्वना और अनुकंपा के भाव से नहीं, बल्कि सर्वात्मक, सर्वव्यापक परमेश्वर की सेवा इस भाव से सहायता करना, अपना सर्वस्व उस की विनम्र सेवा में समर्पण करना; जो हमारे माता, पिता, बंधु, मित्र और सबकुछ हैं। यही तो हमारे धर्म का सच्चा भाव है।”

“हमारा यह कार्य हमारे सनातन धर्म का सारा वैभव और तेजस्विता सारे विश्व में फैलाएँ।”

मा. स. गोलवलकर  
मकर संक्रमण, शक १८६८  
दि. १४-१-१९७०

